



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707
ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

पत्रांक:मेमो/अ0बौ0के0/08/2020

दिनांक 22.04.2020

दिनांक 21.04.2020 को सायंकाल एवं 22.04.2020 को दोपहर में प्रसारित होने वाले महाभारत का सीरियल देखते समय गांधार के युवराज शकुनि के कुछ वक्तव्यों ने अनायास ही मेरा ध्यान आकृष्ट किया। भीष्म की प्रेरणा से विदुर धृतराष्ट्र को यह समझाने का प्रयास करते हैं कि पांडवों के वनवास के 13 दिन पूरे हो गये और चूँकि शास्त्रों के अनुसार विशेष परिस्थिति में 13 दिन को 13 वर्ष माना जा सकता है और धृतराष्ट्र तदनुसार उनके वनवास के समाप्ति की घोषणा करते हुए उन्हें वापस बुलाकर भावी युद्ध की सम्भावना समाप्त करने की पहल कर सकते हैं। धृतराष्ट्र इस पर विदुर से क्रोधित हो उनके ऊपर पांडवों का पक्षपात करने का आरोप लगाते हुए, साम्राज्य से निकाल देते हैं लेकिन भीष्म के क्रोध युक्त आदेश से उन्हें वापस बुला लेते हैं।

विदुर के उपर्युक्त प्रयास एवं उनके वापस आ जाने से दुर्योधन एवं उनके मित्रगण इस बात से अत्यंत शंकालु हो उठते हैं कि कहीं पांडवों के वापस आने का मार्ग प्रशस्त न हो जाय। दुर्योधन तो इतना क्रोधित हो उठता है कि ऐसा होने पर आत्म हत्या की धमकी देने लगता है लेकिन कर्ण यह कह कर कि विदुर का वापस आना उन लोगों के लिए लाभकारी है क्योंकि विदुर के सोच के माध्यम से उन्हें भीष्म एवं अन्यो की सोच को समझने में सहायता मिलेगी। इस पर शकुनि दुर्योधन को उसके उतावलेपन की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि "युद्ध का पहला नियम है कि अपने शत्रु को पहचानो। कौन सी स्थिति में वह क्या करेगा? और उसका सबसे शक्तिशाली अस्त्र क्या है? जिस पर उसे अधिक भरोसा है"। शकुनि के यह पूछने पर पांडवों का सबसे अधिक शक्तिशाली अस्त्र क्या है? सभी अपने-अपने ढंग से उत्तर देते हैं लेकिन शकुनि सभी के उत्तरों को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि "उनका सबसे अधिक सशक्त और बलिष्ठ शस्त्र धर्म है"। इसलिए शकुनि उन्हें आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि निश्चिंत रहो, पांडवों के लिए 13 वर्ष का अर्थ 13 वर्ष ही होगा न कि 13 दिन।

शकुनि के कथन का ऊपरी अर्थ यही प्रतीत होता है कि वह पांडवों के धर्म की प्रशंसा कर रहा है, लेकिन वस्तुतः उसका आशय यह है कि पांडवों की धर्म की समझ वास्तव में उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है क्योंकि यही उन्हें तथ्यों को, वर्तमान की सम्यक समझ, विवेचना से वंचित रखने में सहयोग करती है। हमारी यह विवेचना शकुनि के अगले सीरियल दिनांक 22.04.2020 दोपहर में दिये गये कथन से पुष्ट हो जाती है। व्यास, धृतराष्ट्र से मिलने आते हैं और उन्हें भावी सर्वनाश के प्रति सचेत करते हुए इससे बचने का निर्देश देते हैं। इस पर दुर्योधन अत्यंत आशंकित हो जाता है, तब शकुनि उन्हें समझाते हुए कहते हैं, "ऋषियों की



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707
ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

सेवा करो, यह लोग बड़े सीधे लोग होते हैं, इनका आदर करो, उनकी बात सुनो, परन्तु उसे मानना आवश्यक तो नहीं है।”

शकुनि का कथन कि ऋषियों की सेवा करना चाहिए, उनकी बात भी सुननी चाहिए लेकिन उनकी बात मानना आवश्यक नहीं है; भले ही इसे शकुनि के नकारात्मक सोच के रूप में व्याख्यायित किया जाय लेकिन यह एक कठोर वास्तविकता एवं तथ्य है कि हम सभी को अच्छी-अच्छी बातें मात्र अच्छी लगती हैं, लेकिन जब उसके अनुसार आचरण करने का प्रश्न आता है तो हम हजार बहाने बनाते हैं। अच्छे को अच्छा कहना अत्यंत आसान है लेकिन उस मार्ग पर चलने से हम सभी बचना चाहते हैं और इसमें सबसे आसान तर्क व्यवहारिकता का दिया जाता है।

मानव इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमने ऐसे सभी लोगों के प्रति, जो हमें वास्तव में रुपान्तरित करना चाहते थे, उनके जीवन काल में उनका प्रतिरोध ही किया है, उन्हें किसी न किसी रूप में अपमानित ही किया है, भले ही उनके न रहने के बाद उनकी पूजा की हो, उनके कथनों के संग्रह पर पुष्प अर्पित किया हो। बुद्ध, महावीर, ईसा मसीह, नानक, कबीर आदि ऐसे बहुत से प्रज्ञावान व्यक्तियों का जीवन इसका प्रमाण हैं। ऐसे प्रज्ञावान व्यक्तियों के कथन अंगारे के समान होते हैं जो हमें उस रूप में निश्चित ही जला देते हैं जैसे हम होते हैं; जिससे हम वह हो सकें, जो वस्तुतः हम हैं या जिसकी सम्भावना बीज रूप में हमारे में निहित है, इसीलिए हम उनसे बचना चाहते हैं और जब वे हमारे बीच नहीं रहते हैं तो हम उनकी आराधना करने लगते हैं, क्योंकि ऐसा करके हम अपने को यह धोखा देने में सफल हो जाते हैं कि हम उनके बताए हुए मार्ग पर विश्वास करते हैं, या चल रहे हैं।

हमारे मन की संरचना ही ऐसी है कि उसे झूठ, प्रवंचना की आवश्यकता होती है। हम सभी यह कहते हैं कि हमें सत्य चाहिए (लेकिन ऊपर ही ऊपर), वस्तुतः हम में से कोई सत्य को चाहता ही नहीं है। हमारे सभी सत्य (तथाकथित) झूठ के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते, वे हमारी किन्हीं अस्तित्वगत विसंगतियों हेतु कवच ही होते हैं जिससे हम नग्न वास्तविकता को देखने से स्वयं को बचा सकें।

हम प्रज्ञा पुरुषों के कथनों पर प्रयोग करने के स्थान पर आसानी से विश्वास कर लेते हैं क्योंकि विश्वास करना सहज है जबकि प्रयोग करके सच्चाई जानना कठिन होता है और इसी से हम में किसी भी रुपान्तरण की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। उदात्त से उदात्त विचारों के प्रति मात्र विश्वास से हमारे अन्दर किसी भी मौलिक तत्त्व का रुपान्तरण नहीं होता, हम वहीं के वहीं बने रहते हैं और यह बहुत ही सुविधा जनक भी होता है।



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707
ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

योग इसी से विश्वास पर अवलम्बित न हो एक प्रयोग है जो हम अपने अस्तित्व के साथ करते हैं और निश्चित यह प्रयोग हमें वह नहीं रहने देगा, जो हम हैं। यह हमें अपने अस्तित्व से अनिवार्यतः परिचित कराएगा। हमें बुखार है और यदि हम क्रोसीन लेते हैं तो निश्चित ही बुखार उतर जायेगा और यदि ऐसा नहीं होता तो दो ही सम्भावना है कि या तो बुखार नकली है, नहीं तो क्रोसीन नकली है।

योग रूपी क्रोसीन हमारे अस्तित्वगत बुखार को तभी दूर कर सकती है जब हमारा 'बुखार' भी असली होगा, जिसकी कसौटी जैसा कि पिछले प्रबोधन में कहा गया है— समग्र नैराश्य है; जो योग में प्रवेश का प्रस्थान बिन्दु है। प्रस्थान के साथ ही हम, एक सहज स्वाभाविक अनुशासन में निबद्ध हो जाते हैं— हम उस केन्द्र का अनुभव कर लेते हैं जहाँ परम शांति है। केन्द्रीकरण की यही प्रक्रिया अनुशासन है। जिससे हम विनम्र, ग्रहणशील एवं खुले हो जाते हैं।

जैसे ही हम केन्द्रस्थ— 'एक' होते हैं वैसे ही हमारा मन जैसा वह अभी तक रहा है उसका निषेध हो जाता है— 'योगश्चितवृत्ति निरोध'। योग मन का अवसान है, उस मन का जिसमें हमारा अहंकार, हमारी इच्छाएं, हमारी आशाएं, हमारे तत्त्वज्ञान, हमारे धर्म—समस्त शास्त्र निहित होते हैं। हम जो भी जानते हैं या जो भी अभी तक जाना गया है अथवा भविष्य में जाना जा सकता है; संक्षेप में समस्त ज्ञेय जो मन के अन्तर्गत आता है; उसकी समाप्ति हो जाती है और यही योग है। योग वास्तव में अज्ञात में छलांग है लेकिन इसे अज्ञात भी कहना उचित न होगा क्योंकि इसमें यह भाव निहित है कि जो अज्ञात है, उसमें ज्ञात होने की सम्भावना है। अतः यह कहना अधिक सार्थक है कि योग अज्ञेय, ज्ञानातीत में छलांग है।

यदि 'योग' मन की समाप्ति है, तो प्रश्न है कि मन क्या है? सामान्यतः हम सभी मन को एक भौतिक वस्तु के रूप में मानते हैं लेकिन पतंजलि इसे स्वीकार नहीं करते। वे इसे एक 'वृत्ति', क्रियाशीलता मानते हैं। क्यों?

इसे हम अपनी सामान्य शारीरिक क्रिया जैसे 'चलना' के विश्लेषण द्वारा समझ सकते हैं। जब कोई चलता है तो यह कहा जाता है कि वह चल रहा है। लेकिन यह 'चलना' क्या है? क्योंकि यदि जो चल रहा है वह रुक जाए या बैठ जाए तो उसका 'चलना' कहाँ चला जाता है? यदि उस व्यक्ति से पूछा जाय कि उसका 'चलना' कहाँ गया? तो वह कोई उत्तर नहीं दे सकता क्योंकि उसका 'चलना' कोई ठोस वस्तु नहीं था कि रुकने के पश्चात वह संकेत करके बता सके कि उसका 'चलना' अब वहाँ चला गया है। **ऐसा इसलिए है क्योंकि**



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707
ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

'चलना' मात्र एक क्रिया है, इसलिए क्रिया के रूक जाने पर उसके बारे में पूछना कि वह कहाँ गयी, अयुक्तिपूर्ण है।

चलने के समान 'मन' भी एक क्रिया है लेकिन 'मन' शब्द के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वह कोई वस्तु है जो हमारे मस्तिष्क में विद्यमान है। लेकिन इस तथ्य की अनुभूति अत्यंत कठिन है कि 'मन', 'चलने', 'बोलने' आदि के समान ही क्रिया है क्योंकि जहाँ शारीरिक क्रियाएं हमारे नियंत्रण में होती हैं, वहीं 'मन' सदैव क्रियाशील रहता है इसलिए उसे मात्र क्रियाशीलता – वृत्ति के रूप में अनुभव करना कठिन है। **मन मात्र सक्रियता है अन्य सभी सक्रियताओं के समान।** इसीलिए योग की स्थापना है कि मन को यदि सजगता – जागरूकता के साथ अनुभूत कर लिया जाय तो वह समाप्त हो जाता है, उसकी सक्रियता में अवकाश हो जाता है और हमारा प्रवेश योग में हो जाता है।

स्पष्टतः जैसे ही सोचने – समझने की क्रिया में ठहराव आ जाता है, वैसे ही वहाँ 'हम' होते हैं। विचार बादलों के समान होते हैं और हमारे अस्तित्व, जो आकाश के समान होता है को आवृत्त किए रहता है। हमारा 'अस्तित्व' – हमारी 'स्व-सत्ता' तो हमेशा वहीं रहती है, जहाँ उसे होना चाहिए, लेकिन विचारों – मन की क्रियाशीलता के कारण वह (हमारा घर) आवृत्त रहती है। मन की वृत्ति के रूप में अनुभूति – उसकी समाप्ति एवं योग में प्रवेश की घोषणा होती है।

इस हेतु अपने आपको जागरूक करना होता है— मन के प्रति ध्यान के माध्यम से। ध्यान कोई क्रिया नहीं है बल्कि यह मात्र देखना— अवलोकन करना है, किसे? मन को। जब हम मन को चलने देते हैं, उसे जो वह कर रहा है करने देते हैं, तब हम ध्यान में होते हैं। तब हम केवल देखते हैं, मन जो करता है उसमें कोई व्यवधान नहीं डालते हैं; मात्र साक्षी, दर्शक बने रहते हैं; कुछ इस प्रकार कि जो कुछ हो रहा है मानो हम उससे असम्बद्ध हों। जब हम ऐसा करते हैं तो कुछ दिनों तक मन अपने अतीत के संवेग के कारण चलता रहता है लेकिन जब हम उसकी क्रियाशीलता में सहयोग नहीं देते तो कुछ अवधि के बाद वह रूक जाता है, उसकी समाप्ति हो जाती है – 'अ-मन' की अवस्था प्रदत्त हो जाती है। बुद्ध ने इसी की उपलब्धि हेतु 'उपेक्षा' पद का प्रयोग किया है। मन के रूकते ही हम योग में प्रविष्ट होते हैं, अनुशासन को उपलब्ध हो जाते हैं।

यही वह स्थिति होती है जब साक्षी, जिसने मन की उपेक्षा की है; उससे (मन) उसकी क्रियाशीलता से अपने को असम्बद्ध करने में सफलता पायी है; स्वयं में स्थापित हो जाता है। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" मन को जब वह बह रहा होता है, केवल देखते रहने से वह



अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर-272202

सुशील कुमार तिवारी
आचार्य एवं विशेष कार्याधिकारी
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र

मो0नं0: 9140318839,
9415245707
ईमेल: skt_gpu@yahoo.com

कुछ अवधि विशेष के पश्चात् स्वयं रुक जाता है मानों वह शक्ति जो उसकी गति, क्रियाशीलता का कारण थी, समाप्त हो गयी हो और इस स्थिति में ही हम अपने में प्रतिष्ठित हो जाते हैं— देखने वाले द्रष्टा के रूप में न कि कर्ता या विचारक या किसी अन्य रूप में। हम अपने वास्तविक अस्तित्व को प्रदत्त हो जाते हैं। लेकिन पतंजलि हमें सचेत भी करते हैं कि इस स्थिति के अतिरिक्त “शेष अवस्थाओं” में मन की वृत्तियों के साथ (साक्षी) का तादात्म्य बना रहता है— “वृत्तिसारूप्यमितरत्र”। दूसरे शब्दों में उपर्युक्त वर्णित अवस्था के अतिरिक्त हमारा तादात्म्य मन से बना रहता है। हम विचारों के प्रवाह के साथ जुड़े रहते हैं और तद्नुरूप सुखद या दुःखद अनुभूति को प्राप्त होते रहते हैं। उदाहरणार्थ “यदि हमें प्यास लगी है” तो हम ‘प्यास’ एवं ‘गले के सूखने’ में तादात्म्य बना लेते हैं और कहते हैं कि ‘मैं प्यासा हूँ’ जबकि वास्तविकता है कि प्यास शरीर गत आवश्यकता है। बुद्ध, महावीर, जैसे व्यक्तियों को भी शारीरिक आवश्यकताओं की प्रतीति निश्चित ही होती होगी लेकिन वे यह कभी नहीं कहेंगे कि “मैं प्यासा हूँ” या “मैं भूखा हूँ” बल्कि वास्तव में वे यह कहेंगे कि “शरीर प्यासा है” या “शरीर भूखा है”।

हमारा (साक्षी का) मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य ही संसार है— दुःख का कारण। जबकि साक्षी की स्वयं में स्थिति – निर्वाण है, आनन्द की अवस्था है। मन का साक्षी होना आनन्द के जगत-निर्वाण का पासपोर्ट है जबकि मन के साथ तादात्म्य उस पासपोर्ट को अवैध कर देता है।

कैसे? अगले प्रबोधन में।

सुशील कुमार तिवारी
(विशेष कार्याधिकारी)
अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध केन्द्र
सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु,
सिद्धार्थनगर।